# तार्किक शिरोमणि आचार्य सिद्धसेन 'दिवाकर'

सिद्धसेन दिवाकर जैन दर्शन के शीर्षस्थ विद्वान् रहे हैं। जैन दर्शन के क्षेत्र में अनेकान्तवाद की तार्किक स्थापना करने वाले वे प्रथम पुरुष हैं। जैन दर्शन के आद्य तार्किक होने के साथ-साथ वे भारतीय दर्शन के आद्य संग्राहक और समीक्षक भी हैं। उन्होंने अपनी कृतियों में विभिन्न भारतीय दर्शनों की तार्किक समीक्षा भी प्रस्तुत की है। ऐसे महान् दार्शनिक के जीवन वृत्त और कृतित्व के सम्बन्ध में तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में रचित प्रबन्धों के अतिरिक्त अन्यत्र मात्र सांकेतिक सूचनाएँ ही मिलती हैं। यद्यपि उनके अस्तित्व के सन्दर्भ में हमें अनेक प्राचीन ग्रन्थों में संकेत उपलब्ध होते हैं। लगभग चतुर्थ शताब्दी से जैन ग्रन्थों में उनके और उनकी कृतियों के सन्दर्भ हमें उपलब्ध होने लगते हैं। फिर भी उनके जीवनवृत्त और कृतित्व के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी का अभाव ही है। यही कारण है कि उनके जीवनवृत्त, सत्ताकाल, परम्परा तथा कृतियों को लेकर अनेक विवाद आज भी प्रचलित हैं। यद्यपि पूर्व में पं० सुखलाल जी, प्रो० ए०एन० उपाध्ये, पं० जुगल किशोर जी मुख्तार आदि विद्वानों ने उनके व्यक्तित्व और कृतित्व के सन्दर्भ में प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है किन्तु इन विद्वानों की परस्पर विरोधी स्थापनाओं के कारण विवाद अधिक गहराता ही गया। मैंने अपने ग्रन्थ **'जैन धर्म का यापनीय सम्प्रदाय'** में उनकी परम्परा और सम्प्रदाय के सम्बन्ध में पर्याप्त रूप से विचार करने का प्रयत्न किया है किन्तु उनके समग्र व्यक्तित्व और कृतित्व के सम्बन्ध में आज तक की नवीन खोजों के परिणामस्वरूप जो कुछ नये तथ्य सामने आये हैं, उन्हें दृष्टि में रखकर डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय ने सिद्धसेन दिवाकर के व्यक्तित्व और कृतित्व के सन्दर्भ में अब तक जो कुछ लिखा गया था उसका आलोड़न और विलोड़न करके ही एक कृति का प्रणयन किया है। उनकी यह कृति मात्र उपलब्ध सूचनाओं का संग्रह ही नहीं है अपितु उनके तार्किक चिन्तन का परिणाम है। यद्यपि अनके स्थलों पर मैं उनके निष्कर्षों से सहमत नहीं हूँ फिर भी उन्होंने जिस तार्किकता के साथ अपने पक्ष को प्रस्तुत किया है वह निश्चय ही श्लाघनीय है। प्रस्तुत निबन्ध में मैं उन्हीं तथ्यों पर प्रकाश डालूँगाँ, जिनपर या तो उन्होंने कोई चर्चा नहीं की है या जिनके सम्बन्ध में मैं उनके निष्कर्षों से सहमत नहीं हूँ।

वस्तुत: सिद्धसेन के सन्दर्भ में प्रमुख रूप से तीन ऐसी बातें रहीं है जिनपर विद्वानों में मतभेद पाया जाता है-

(१) उनका सत्ता काल

(२) उनकी परम्परा और

(३) **न्यायावतार** एवं कुछ **द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिकाओं** के कृतित्व का प्रश्न।

यद्यपि उनके सत्ताकाल के सन्दर्भ में मेरे मन्तव्य एवं डॉ० पाण्डेय के मन्तव्य में अधिक दूरी नहीं हैं फिर भी जहाँ उन्होंने अपने निष्कर्ष में सिद्धसेन को ५वीं शताब्दी का आचार्य माना है, वहाँ मैं इस काल सीमा को लगभग १०० वर्ष पहले विक्रम की चतुर्थ सदी में ले जाने के पक्ष में हूँ जिसकी चर्चा मैं यहाँ करना चाहूँगा।

### सिद्धसेन का काल

उनके सत्ता काल के सम्बन्ध में पं० सुखलाल जी ने एवं डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय ने विस्तृत चर्चा की है[१]। अत: हम तो यहाँ केवल संक्षिप्त चर्चा करेंगे। **प्रभावकचरित** में सिद्धसेन की गुरु परम्परा की विस्तृत चर्चा हुई है। उसके अनुसार सिद्धसेन आर्य स्कन्दिल के प्रशिष्य और वृद्धवादी के शिष्य थे। आर्य स्कन्दिल को माथुरी वाचना का प्रणेता माना जाता है। यह वाचना वीर निर्वाण ८४० में हुई थी। परम्परागत मान्यता के आधार पर आर्य स्कन्दिल का समय विक्रम की चतुर्थ शताब्दी (८४०-४७०=३७०) के उत्तरार्ध के लगभग आता है। किन्तु यदि हम पाश्चात्य विद्वानों की प्रमाण पुरस्सर अवधारणा के आधार पर वीर निर्वाण विक्रम संवत् ४१० वर्ष पूर्व मानें तो स्कन्दिल का समय विक्रम की चौथी शती का उत्तरार्ध और पाँचवी का पूर्वार्ध (८४०-४१०=४३०) सिद्ध होगा। कभी-कभी प्रशिष्य अपने प्रगुरु के समकालिक भी होता है इस आधार पर सिद्धसेन दिवाकर का काल भी विक्रम की चौथी शताब्दी का उत्तरार्ध भी माना जा सकता है। प्रबन्धों में सिद्धसेन को विक्रमादित्य का समकालीन भी माना गया है। यदि चन्द्रगुप्त द्वितीय को विक्रमादित्य मान लिया जाय तो सिद्धसेन चतुर्थ शती के सिद्ध होते हैं। यह माना जाता है उनकी सभा में कालिदास, क्षपणक आदि नौ रत्न थे और यदि क्षपणक सिद्धसेन ही थे तो सिद्धसेन का काल विक्रम की चतुर्थ शताब्दी का उत्तरार्ध माना जा सकता है, क्योंकि चन्द्रगुप्त द्वितीय का काल भी विक्रम की चर्तुथ शताब्दी का उत्तरार्ध सिद्ध होता है। पुन: मल्लवादी ने सिद्धसेन दिवाकर के **सन्मतितर्क** पर टीका लिखी थी, ऐसा निर्देश आचार्य हरिभद्र नै किया है। प्रबन्धों के मल्लवादी का काल वीर निर्वाण संवत् ८८४ (८८४-४७०=४१४) के आसपास माना जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि विक्रम की पाँचवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में **सन्मतिसूत्र** पर टीका लिखी जा चुकी थी। अत: सिद्धसेन विक्रम की चौथी शताब्दी के उत्तरार्ध में हुए होंगे। पुन: विक्रम की छठी शताब्दी में पूज्यपाद देवनन्दी ने **जैनेन्द्र व्याकरण** में सिद्धसेन के मत का उल्लेख किया है। पूज्यपाद देवनन्दी का काल विक्रम की पाँचवी-छठी शती माना गया है। इससे भी वे विक्रम संवत् की पांचवी-छठी शताब्दी के पूर्व हुए हैं, यह तो सुनिश्चित हो जाता है।

मथुरा के अभिलेखों में दो अभिलेख ऐसे हैं जिनमें आर्य वृद्धहस्ति का उल्लेख है। संयोग से इन दोनों अभिलेखों में काल भी दिया हुआ है। ये अभिलेख हुविष्क के काल के हैं। इनमें से प्रथम में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्ष ६० का और द्वितीय में वर्ष ७९ का उल्लेख है । यदि हम इसे शक संवत् मानें तो तद्नुसार दूसरे अभिलेख का काल लगभग विक्रम संवत् २१५ होगा। यदि ये लेख उनकी युवावस्था के हों तो आचार्य वृद्धहस्ति का काल विक्रम की तीसरी शताब्दी के उत्तरार्ध तक माना जा सकता है । इस दृष्टि से भी सिद्धसेन का काल विक्रम की तीसरी शताब्दी के उत्तरार्ध से चौथी शताब्दी के पूर्वार्ध के बीच माना जा सकता है ।

इस समग्र चर्चा से इतना निश्चित होता है कि सिद्धसेन दिवाकर के काल की सीमा रेखा विक्रम संवत् की तृतीय शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर विक्रम संवत् की पंचम शताब्दी के पूर्वार्ध के बीच ही कहीं निश्चित होगी । पं० सुखलाल जी, पं० बेचरदास जी ने उनका काल चतुर्थ-पंचम शताब्दी निश्चित किया है । प्रो० ढाकी ने भी उन्हें पाँचवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में माना है, किन्तु इस मान्यता को उपर्युक्त अभिलेखों के आलोक में तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय से समकालिकता की दृष्टि से थोड़ा पीछे लाया जा सकता है । यदि आर्य वृद्धहस्ति ही वृद्धवादी हैं और सिद्धसेन उनके शिष्य हैं तो सिद्धसेनका काल विक्रम की तृतीय शती के उत्तरार्ध से चतुर्थ शताब्दी के पूर्वार्ध के बीच ही मानना होगा । कुछ प्रबन्धों में उन्हें आर्य धर्म का शिष्य भी कहा गया है । आर्य धर्म का उल्लेख कल्पसूत्र स्थविरावली में है । वे आर्य वृद्ध के बाद तीसरे क्रम पर उल्लिखित हैं । इसी स्थविरावली में एक आर्य धर्म देवर्धिगणिक्षमाश्रमण के पूर्व भी उल्लेखित हैं । यदि हम सिद्धसेन के सन्मतिप्रकरण और तत्त्वार्थसूत्र कि तुलना करें तो दोनो में कुछ समानता परिलक्षित होती है। विशेष रूप से तत्त्वार्थ सूत्र में अनेकान्त दृष्टि को व्याख्यायित करने के लिए 'अर्पित' और 'अनर्पित' जैसे शब्दों का प्रयोग हुआ है । इन शब्दों का प्रयोग सन्मतितर्क (१/४२) में भी पाया जाता है। मेरी दृष्टि में सिद्धसेन उमास्वाति से किंचित परवर्ती हैं और उनका काल विक्रम की चतुर्थ शती से परवर्ती नहीं है ।

## सिद्धसेन दिवाकर की परम्परा

जहाँ तक उनकी परम्परा का प्रश्न है डॉ० पाण्डेय ने अपनी कृति में इसकी विस्तृत चर्चा नहीं की है । सम्भवत: डॉ० पाण्डेय ने उनकी परम्परा के सन्दर्भ में विशेष उल्लेख यह जानकर नहीं किया हो कि इस सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा मैंने अपने ग्रन्थ जैन धर्म का यापनीय सम्प्रदाय में की है।

सिद्धसेन दिवाकर के सम्प्रदाय के विषय में विभिन्न दृष्टिकोण परिलक्षित होते हैं । जिनभद्र, हरिभद्र आदि से प्रारम्भ करके पं० सुखलाल जी, पं० बेचरदास जी आदि सभी श्वेताम्बर परम्परा के विद्वान् एकमत से उन्हें अपने सम्प्रदाय का स्वीकार करते हैं[२] इसके विपरीत षट्खण्डागम की धवला टीका एवं जिनसेन के हरिवंश तथा रविषेण के पद्मपुराण में सिद्धसेन का उल्लेख होने से पं० जुगल किशोर मुख्तार जैसे दिगम्बर परम्परा के कुछ विद्वान् उन्हें अपनी परम्परा का आचार्य सिद्ध करने का प्रयास करते हैं[३]। किन्तु दिगम्बर परम्परा से उनकी कुछ भिन्नताओं को देखकर प्रो० ए०एन० उपाध्ये आदि कुछ दिगम्बर विद्वानों ने उन्हें यापनीय परम्परा का आचार्य सिद्ध करने का प्रयास किया है[४]। प्रो० उपाध्ये ने जो तर्क दिये उन्हें स्पष्ट करते हुए तथा अपनी ओर से कुछ अन्य तर्कों को प्रस्तुत करते हुए डॉ० कुसुम पटोरिया ने भी उन्हें यापनीय परम्परा का सिद्ध किया है[५]। प्रस्तुत सन्दर्भ में हम इन विद्वानों के मन्तव्यों की समीक्षा करते हुए यह निश्चय करने का प्रयत्न करेंगे कि वस्तुत: सिद्धसेन की वास्तविक परम्परा क्या थी ।

## क्या सिद्धसेन दिगम्बर हैं ?

समन्तभद्र की कृति के रूप में मान्य रत्नकरण्डक श्रावकाचार में प्राप्त न्यायावतार की जिस समान कारिका को लेकर यह विवाद है कि यह कारिका सिद्धसेन ने समन्तभद्र से ली है, इस सम्बन्ध में प्रथम तो यही निश्चित नहीं है कि रत्नकरण्डक समन्तभद्र की कृति है या नहीं। दूसरे यह कि यह कारिका दोनों ग्रन्थों में अपने योग्य स्थान पर है अत: इसे सिद्धसेन से समन्तभद्र ने लिया है या समन्तभद्र से सिद्धसेन ने लिया है, यह कह पाना कठिन है । तीसरे, यदि समन्तभद्र भी लगभग ५वीं शती के आचार्य हैं और न्यायावतार को सिद्धसेन की कृति मानने में बाधा नहीं है, तो यह भी सम्भव है, समन्तभद्र ने इसे सिद्धसेन से लिया हो । समन्तभद्र की आप्तमीमांसा में भी सन्मतितर्क को कुछ गाथाएँ अपने संस्कृत रूप में मिलती हैं ।

पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने सन्मतिसूत्र के कर्ता सिद्धसेन को दिगम्बर परम्परा का आचार्य सिद्ध करने का प्रयत्न किया है तथापि मुख्तार जी उन्हें दिगम्बर परम्परा का आचार्य होने के सम्बन्ध में कोई भी आधारभूत प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर पाये हैं । उनके तर्क मुख्यत: दो बातों पर स्थित हैं[६] - प्रथमत: सिद्धसेन के ग्रन्थों से यह फलित नहीं होता कि वे स्त्रीमुक्ति, केवलीभुक्ति और सवस्त्रमुक्ति आदि के समर्थक थे । दूसरे यह कि सिद्धसेन अथवा उनके ग्रन्थ सन्मतिसूत्र का उल्लेख जिनसेन, हरिषेण, वीरषेण आदि दिगम्बर आचार्यों ने किया है- इस आधार पर उनके दिगम्बर परम्परा के होने की सम्भावना व्यक्त करते हैं । यदि आदरणीय मुख्तार जी उनके ग्रन्थों में स्त्रीमुक्ति, केवलीभुक्ति या सवस्त्रमुक्ति का समर्थन नहीं होने के निषेधात्मक तर्क के आधार पर उन्हें दिगम्बर मानते हैं, तो फिर इसी प्रकार के निषेधात्मक तर्क के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि उनके ग्रन्थों में स्त्रीमुक्ति, केवलीभुक्ति और सवस्त्रमुक्ति का खण्डन नहीं है, अत: वे श्वेताम्बर परम्परा के आचार्य हैं।

पुन: मुख्तार जी यह मान लेते हैं कि रविषेण और पुन्नाटसंघीय जिनसेन दिगम्बर परम्परा के हैं, यह भी उनकी भ्रांति है । रविषेण यापनीय परम्परा के हैं अत: उनके परदादा गुरू के साथ में सिद्धसेन दिवाकर का उल्लेख मानें तो भी वे यापनीय सिद्ध होंगे, दिगम्बर तो किसी भी स्थिति में सिद्ध नहीं होगें । आदरणीय मुख्तारजी ने एक यह विचित्र तर्क दिया है कि श्वेताम्बर प्रबन्धों में सिद्धसेन के सन्मतिसूत्र का उल्लेख नहीं है, इसलिए प्रबन्धों में उल्लिखित सिद्धसेन अन्य कोई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिद्धसेन हैं, वे सन्मतिसूत्र के कर्ता सिद्धसेन नहीं हैं। किन्तु मुख्तारजी ये कैसे भूल जाते हैं कि प्रबन्ध ग्रन्थों के लिखे जाने के पाँच सौ वर्ष पूर्व हरिभद्र के पंचवस्तु तथा जिनभद्र की निशीथचूर्णि में सन्मतिसूत्र और उसके कर्ता के रूप में सिद्धसेन के उल्लेख उपस्थित हैं। जब प्रबन्धों से प्राचीन श्वेताम्बर ग्रन्थों में सन्मतिसूत्र के कर्ता के रूप में सिद्धसेन का उल्लेख है, तो फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि प्रबन्धों में जो सिद्धसेन का उल्लेख है वह सन्मतिसूत्र के कर्ता सिद्धसेन का न होकर कुछ द्वात्रिंशिकाओं और न्यायावतार के कर्ता किसी अन्य सिद्धसेन का है। पुन: श्वेताम्बर आचार्यों ने यद्यपि सिद्धसेन के अभेदवाद का खण्डन किया है, किन्तु किसी ने भी उन्हें अपने से भिन्न परम्परा या सम्प्रदाय का नहीं बताया है। श्वेताम्बर परम्परा के विद्वान् उन्हें मतभिन्नता के बावजूद अपनी ही परम्परा का आचार्य प्राचीन काल से मानते आ रहे हैं। श्वेताम्बर ग्रन्थों में उन्हें दण्डित करने की जो कथा प्रचलित है, वह भी यही सिद्ध करती है कि वे सचेल धारा में ही दीक्षित हुए थे, क्योंकि किसी आचार्य को दण्ड देने का अधिकार अपनी ही परम्परा के व्यक्ति को होता है- अन्य परम्परा के व्यक्ति को नहीं। अत: सिद्धसेन दिगम्बर परम्परा के आचार्य थे, यह किसी भी स्थिति में सिद्ध नहीं होता है।

केवल यापनीय ग्रन्थों और उनकी टीकाओं में सिद्धसेन का उल्लेख होने से इतना ही सिद्ध होता है कि सिद्धसेन यापनीय परम्परा में मान्य रहे हैं। पुन: श्वेताम्बर धारा के कुछ बातों में अपनी मत-भिन्नता रखने के कारण उनको यापनीय या दिगम्बर परम्परा में आदर मिलना अस्वाभाविक भी नहीं है। जो भी हमारे विरोधी का आलोचक होता है, वह हमारे लिए आदरणीय होता है, यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। कुछ श्वेताम्बर मान्यताओं का विरोध करने के कारण सिद्धसेन यापनीय और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में आदरणीय रहे हैं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वे दिगम्बर या यापनीय हैं। यह तो उसी लोकोक्ति के आधार पर हुआ है कि शत्रु का शत्रु मित्र होता है। किसी भी दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थ में सिद्धसेन के जीवनवृत्त का उल्लेख न होने से तथा श्वेताम्बर परम्परा में उनके जीवनवृत्त का सविस्तार उल्लेख[७] होने से तथा श्वेताम्बर परम्परा द्वारा उन्हें कुछ काल के लिए संघ से निष्कासित किये जाने के विवरणों[८] से यही सिद्ध होता है कि वे दिगम्बर या यापनीय परम्परा के आचार्य नहीं थे। मतभेदों के बावजूद श्वेताम्बरों ने सदैव ही उन्हें अपनी परम्परा का आचार्य माना है। दिगम्बर आचार्यों ने उन्हें 'द्वेष्य-सितपट' तो कहा, किन्तु अपनी परम्परा का कभी नहीं माना। एक भी ऐसा स्पष्ट उल्लेख नहीं है जिसमें सन्मतिसूत्र के कर्ता सिद्धसेन को दिगम्बर परम्परा का कहा गया हो। जबकि श्वेताम्बर भण्डारों में उपलब्ध उनकी कृतियों की प्रतिलिपियों में उन्हें श्वेताम्बराचार्य कहा गया है।

श्वेताम्बर परम्परा के साहित्य में छठी-सातवीं शताब्दी से लेकर मध्यकाल तक सिद्धसेन के अनेक उल्लेख उपलब्ध होते हैं। पुन: सिद्धसेन की कुछ द्वात्रिंशिकायें स्पष्ट रूप से महावीर के विवाह आदि श्वेताम्बर मान्यता एवं आगम ग्रन्थों की स्वीकृति और आगमिक सन्दर्भो का उल्लेख करती हैं[९]। यद्यपि श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थ यह भी उल्लेख करते हैं कि कुछ प्रश्नों को लेकर उनका श्वेताम्बर मान्यताओं से मतभेद था, किन्तु इससे यह तो सिद्ध नहीं होता है कि वे किसी अन्य परम्परा के आचार्य थे। यद्यपि सिद्धसेन श्वेताम्बर मान्य आगम साहित्य को स्वीकार करते थे किन्तु वे आगमों को युगानुरूप तर्क पुरस्सरता भी प्रदान करना चाहते थे। इसलिए उन्होंने सन्मतिसूत्र में आगमभीरू आचार्यों पर कटाक्ष किया तथा आगमों में उपलब्ध असंगतियों का निर्देश भी किया है[१०]। परवर्ती प्रबन्धों में उनकी कृति सन्मतिसूत्र का उल्लेख नहीं होने का स्पष्ट कारण यह है कि सन्मतिसूत्र में श्वेताम्बर आगम मान्य क्रमवाद का खण्डन है और मध्ययुगीन सम्प्रदायगत मान्यताओं से जुड़े हुए श्वेताम्बराचार्य यह नहीं चाहते थे कि उनके सन्मतिसूत्र का संघ में व्यापक अध्ययन हो। अत: जानबूझकर उन्होंने उसकी उपेक्षा की।

पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने सन्मतिसूत्र के कर्ता सिद्धसेन को दिगम्बर सिद्ध करने के उद्देश्य से यह मत भी प्रतिपादित किया है कि सन्मतिसूत्र के कर्ता सिद्धसेन, कतिपय द्वात्रिंशिकाओं के कर्ता सिद्धसेन और न्यायावतार के कर्ता सिद्धसेन- ये तीनों अलग-अलग व्यक्ति हैं[११]। उनकी दृष्टि में सन्मतिसूत्र के कर्ता सिद्धसेन दिवाकर दिगम्बर हैं- शेष दोनों श्वेताम्बर हैं। किन्तु यह उनका दुराग्रह मात्र है- वे यह बता पाने में पूर्णत: असमर्थ रहे हैं कि आखिर ये दोनों सिद्धसेन कौन हैं? सिद्धसेन के जिन ग्रन्थों में दिगम्बर मान्यता का पोषण नहीं होता हो, उन्हें अन्य किसी सिद्धसेन की कृति कहकर छुटकारा पा लेना उचित नहीं कहा जा सकता। उन्हें यह बताना चाहिए कि आखिर ये द्वात्रिंशिकायें कौन से सिद्धसेन की कृति हैं और क्यों इन्हें अन्य सिद्धसेन की कृति माना जाना चाहिए ? मात्र श्वेताम्बर मान्यताओं का उल्लेख होने से उन्हें सिद्धसेन की कृति होने से नकार देना तो युक्तिसंगत नहीं है। यह तो तभी सम्भव है जब अन्य सुस्पष्ट आधारों पर यह सिद्ध हो चुका हो कि सन्मतिसूत्र के कर्ता सिद्धसेन दिगम्बर हैं। इसके विपरीत प्रतिभा समानता के आधार पर पं० सुखलाल जी इन द्वात्रिंशिकाओं को सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन की ही कृतियाँ मानते हैं[१२]। श्वेताम्बर परम्परा में सिद्धसेन दिवाकर, सिद्धसेनगणि और सिद्धर्षि का उल्लेख मिलता है, किन्तु इनमें सिद्धसेन दिवाकर को ही सन्मतिसूत्र, स्तुतियों (द्वात्रिंशिकाओं) और न्यायावतार का कर्त्ता माना गया हैं। सिद्धसेनगणि तत्त्वार्थाधिगमभाष्य की वृत्ति के कर्ता हैं और सिद्धर्षि-सिद्धसेन के ग्रन्थ न्यायावतार के टीकाकार हैं। सिद्धसेनगणि और सिद्धर्षि को कहीं भी द्वात्रिंशिकाओं और न्यायावतार का कर्ता नहीं कहा गया है। सिद्धर्षि न्यायावतार के टीकाकार हैं, न कि कर्ता।

पुन: आज तक एक भी ऐसा प्रमाण उपलब्ध नहीं है कि किसी भी यापनीय या दिगम्बर आचार्य के द्वारा महाराष्ट्री प्राकृत में कोई ग्रन्थ लिखा गया हो। यापनीय और दिगम्बर आचार्यों ने जो कुछ भी प्राकृत में लिखा है वह सब शौरसेनी प्राकृत में ही लिखा है, जबकि सन्मतिसूत्र स्पष्टत: महाराष्ट्री प्राकृत में लिखा गया है। सन्मतिसूत्र का महाराष्ट्री

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राकृत में लिखा जाना ही इस बात का सबसे बड़ा प्रमाण है कि सिद्धसेन यापनीय या दिगम्बर नहीं हैं। वे या तो श्वेताम्बर हैं या फिर उत्तर भारत की उस निर्ग्रन्थ धारा के सदस्य हैं, जिससे श्वेताम्बर और यापनीय दोनों विकसित हुए हैं। किन्तु वे दिगम्बर तो किसी भी स्थिति में नहीं हैं।

सिद्धसेन का सन्मतिसूत्र एक दार्शनिक ग्रन्थ है और उस काल तक स्त्री-मुक्ति और केवली-भुक्ति जैसे प्रश्न उत्पन्न ही नहीं हुए थे। अत: सन्मतिसूत्र में न तो इनका समर्थन है और न खण्डन ही। इस काल में उत्तरभारत में आचार और विचार के क्षेत्र में जैन संघ में विभिन्न मान्यताएँ जन्म ले चुकी थीं, किन्तु अभी साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण श्वेताम्बर, दिगम्बर, यापनीय आदि रूपों में नहीं हो पाया था। यह वह युग था जब जैन परम्परा में तार्किक चिन्तन प्रारम्भ हो चुका था और धार्मिक एवं आगमिक मान्यताओं को लेकर मतभेद पनप रहे थे। सिद्धसेन का आगमिक मान्यताओं को तार्किकता प्रदान करने का प्रयत्न भी इसी तथ्य की पुष्टि करता है। उस युग में श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय ऐसे सम्प्रदाय अस्तित्व में नहीं आ पाये थे। श्वेताम्बर एवं यापनीय सम्प्रदाय के सम्बन्ध में स्पष्ट नाम निर्देश के साथ जो सर्वप्रथम उल्लेख उपलब्ध होते हैं, वे लगभग ई० सन् ४७५ तदनुसार विक्रम सं० ५३२ के लगभग अर्थात् विक्रम की छठी शताब्दी पूर्वार्ध के हैं। अत: सिद्धसेन को किसी सम्प्रदाय विशेष से नहीं जोड़ा जा सकता क्योंकि उस युग तक न तो सम्प्रदायों का नामकरण हुआ था और न ही वे अस्तित्व में आये थे। मात्र गण, कुल, शाखा आदि का ही प्रचलन था और यह स्पष्ट है कि सिद्धसेन विद्याधर शाखा (कुल) के थे।

**क्या सिद्धसेन यापनीय हैं ?**

प्रो० ए०एन० उपाध्ये ने सिद्धसेन के यापनीय होने के सन्दर्भ में जो तर्क दिये हैं[१३], यहाँ उनकी समीक्षा कर लेना भी अप्रासंगिक नहीं होगा।

(१) उनका सर्वप्रथम तर्क यह है कि सिद्धसेन दिवाकर के लिए आचार्य हरिभद्र ने श्रुतकेवली विशेषण का प्रयोग किया है और श्रुतकेवली यापनीय आचार्यों का विशेषण रहा है। अत: सिद्धसेन यापनीय हैं। इस सन्दर्भ में हमारा कहना यह है कि श्रुतकेवली विशेषण न केवल यापनीय परम्परा के आचार्यों का अपितु श्वेताम्बर परम्परा के प्राचीन आचार्यों का भी विशेषण रहा है। यदि श्रुतकेवली विशेषण श्वेताम्बर और यापनीय दोनों ही परम्पराओं में पाया जाता है तो फिर यह निर्णय कर लेना कि सिद्धसेन यापनीय हैं उचित नहीं होगा।

(२) आदरणीय उपाध्ये जी का दूसरा तर्क यह है कि सन्मतिसूत्र का श्वेताम्बर आगमों से कुछ बातों में विरोध है। उपाध्ये जी के इस कथन में इतनी सत्यता अवश्य है कि सन्मतिसूत्र की अभेदवादी मान्यता का श्वेताम्बर आगमों से विरोध है। मेरी दृष्टि से यही एक ऐसा कारण रहा है कि श्वेताम्बर आचार्यो ने अपने प्रबन्धों में उनके सन्मतितर्क का उल्लेख नहीं किया है। लेकिन मात्र इससे वे न तो आगम विरोधी सिद्ध होते हैं और न यापनीय ही। सर्वप्रथम तो श्वेताम्बर आचार्यों ने उन्हें अपनी परम्परा का मानते हुए ही उनके इस विरोध का निर्देश किया है, कभी उन्हें भिन्न परम्परा का नहीं कहा है। दूसरे, यदि हम सन्मतिसूत्र को देखें तो स्पष्ट हो जाता है कि वे आगमों के आधार पर ही अपने मत की पुष्टि करते थे। उन्होंने आगम मान्यता के अन्तर्विरोध को स्पष्ट करते हुए सिद्ध किया है कि अभेदवाद भी आगमिक धारणा के अनुकूल है। वे स्पष्टरूप से कहते हैं कि आगम के अनुसार केवलज्ञान सादि और अनन्त है, तो फिर क्रमवाद सम्भव नहीं होता है क्योंकि केवल ज्ञानोपयोग समाप्त होने पर ही केवल दर्शनोपयोग हो सकता है। वे लिखते हैं कि सूत्र की आशातना से डरने वाले को इस आगम वचन पर भी विचार करना चाहिए[१४]। वस्तुत: अभेदवाद के माध्यम से वे, उन्हें आगम में जो अन्तर्विरोध परिलक्षित हो रहा था, उसका ही समाधन कर रहे थे। वे आगमों की तार्किक असंगतियों को दूर करना चाहते थे और उनका यह अभेदवाद भी उसी आगमिक मान्यता की तार्किक निष्पत्ति है जिसके अनुसार केवलज्ञान सादि किन्तु अनन्त है। वे यही सिद्ध करते हैं कि क्रमवाद भी आगमिक मान्यता के विरोध में है।

(३) प्रो० उपाध्ये का यह कथन सत्य है कि सिद्धसेन दिवाकर का केवली के ज्ञान और दर्शन के अभेदवाद का सिद्धान्त दिगम्बर परम्परा के युगपद्वाद के अधिक समीप है। हमें यह मानने में भी कोई आपत्ति नहीं है कि सिद्धसेन के अभेदवाद का जन्म क्रमवाद और युगपद्वाद के अन्तर्विरोध को दूर करने हेतु ही हुआ है किन्तु यदि सिद्धसेन दिवाकर दिगम्बर या यापनीय होते तो उन्हें सीधे रूप में युगपद्वाद के सिद्धान्त को मान्य कर लेना था, अभेदवाद के स्थापना की क्या आवश्यकता थी ? वस्तुत: अभेदवाद के माध्यम से वे एक ओर केवलज्ञान के सादि-अनन्त होने के आगमिक वचन की तार्किक सिद्धि करना चाहते थे, वहीं दूसरी ओर क्रमवाद और युगपद्वाद की विरोधी अवधारणाओं को समन्वय भी करना चाहते थे। उनका क्रमवाद और युगपद्वाद के बीच समन्वय का यह प्रयत्न स्पष्ट रूप से यह सूचित करता है कि वे दिगम्बर या यापनीय नहीं थे। यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि यदि सिद्धसेन ने क्रमवाद की श्वेताम्बर और युगपद्वाद की दिगम्बर मान्यताओं का समन्वय किया है, तो उनका काल सम्प्रदायों के अस्तित्व के बाद होना चाहिए। इस सम्बन्ध में हम यह स्पष्ट कर देना चाहते है कि इन विभिन्न मान्यताओं का विकास पहले हुआ है और बाद में साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण की प्रक्रिया में किसी सम्प्रदाय विशेष ने किसी मान्यता विशेष को अपनाया है। पहले मान्यताएँ अस्तित्व में आयीं और बाद में सम्प्रदाय बने। युगपद्वाद भी मूल में दिगम्बर मान्यता नहीं है, यह बात अलग है कि बाद में दिगम्बर परम्परा ने उसे मान्य रखा है। युगपद्वाद का सर्वप्रथम निर्देश श्वेताम्बर कहे जाने वाले उमास्वाति के तत्त्वार्थधिगमभाष्य में है[१५]। सिद्धसेन के समक्ष क्रमवाद और युगपद्वाद दोनों उपस्थित थे। चूंकि श्वेताम्बरों ने आगम मान्य किए थे इसलिए उन्होंने आगमिक क्रमवाद को मान्य किया। दिगम्बरों को आगम मान्य नहीं थे अत: उन्होंने तार्किक युगपद्वाद को प्रश्रय दिया। अत: यह स्पष्ट है कि क्रमवाद एवं युगपद्वाद की ये मान्यताएँ साम्प्रदायिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ध्रुवीकरण के पूर्व की हैं । इस प्रकार युगपद्वाद और अभेदवाद की निकटता के आधार पर सिद्धसेन को किसी सम्प्रदाय विशेष का सिद्ध नहीं किया जा सकता है । अन्यथा फिर तो तत्त्वार्थभाष्यकार को भी दिगम्बर मानना होगा, किन्तु कोई भी तत्त्वार्थभाष्य की सामग्री के आधार पर उसे दिगम्बर मानने को सहमत नहीं होगा ।

(४) पुन: आदरणीय उपाध्ये जी का यह कहना कि एक द्वात्रिंशिका में महावीर के विवाहित होने का संकेत चाहे सिद्धसेन दिवाकर को दिगम्बर घोषित नहीं करता हो, किन्तु उन्हें यापनीय मानने में इससे बाधा नहीं आती है, क्योंकि यापनीयों को भी कल्पसूत्र तो मान्य था ही । किन्तु कल्पसूत्र को मान्य करने के कारण वे श्वेताम्बर भी तो माने जा सकते है । अत: यह तर्क उनके यापनीय होने का सबल तर्क नहीं है । कल्पसूत्र श्वेताम्बर और यापनीयों के पूर्व का ग्रन्थ है और दोनों को मान्य है । अत: कल्पसूत्र को मान्य करने से वे दोनों के पूर्वज भी सिद्ध होते हैं ।

आचार्य सिद्धसेन के कुल और वंश सम्बन्धी विवरण भी उनकी परम्परा निर्धारण में सहयोगी सिद्ध हो सकते हैं । प्रभावकचरित्र और प्रबन्धकोश में उन्हें विद्याधर गच्छ का बताया गया है । अत: हमें सर्वप्रथम इसी सम्बन्ध में विचार करना होगा । दिगम्बर परम्परा ने सेन नामान्त के कारण उनको सेनसंघ का मान लिया है । यद्यपि यापनीय और दिगम्बर ग्रन्थों में जहाँ उनका उल्लेख हुआ है वहाँ उनके गण या संघ का कोई उल्लेख नहीं है । कल्पसूत्र स्थविरावली के अनुसार आर्य सुस्थित के पाँच प्रमुख शिष्यों में स्थविर विद्याधर गोपाल एक प्रमुख शिष्य थे। उन्हीं से विद्याधर शाखा निकली । यह विद्याधर शाखा कोटिक गण की एक शाखा थी । हमारी दृष्टि में आचार्य सिद्धसेन इसी विद्याधर शाखा में हुए हैं । परवर्ती काल में गच्छ नाम प्रचलित होने के कारण ही प्रबन्धों में इसे विद्याधर गच्छ कहा गया है ।

कल्पसूत्र स्थविरावली में सिद्धसेन के गुरू आर्य वृद्ध का भी उल्लेख मिलता है । इस आधार पर यदि हम विचार करें तो आर्य वृद्ध का काल देवर्धिगणि से चार पीढ़ी पूर्व होने के कारण उनसे लगभग १२० वर्ष पूर्व रहा होगा अर्थात् वे वीर निर्वाण सम्वत् ८६० में हुए होंगे । इस आधार पर उनकी आर्य स्कंदिल से निकटता भी सिद्ध हो जाती है, क्योंकि माथुरी वाचना का काल वीर निर्वाण सं० ८४० माना जाता है, इस प्रकार उनका काल विक्रम की चौथी शताब्दी निर्धारित होता है । मेरी दृष्टि में आचार्य सिद्धसेन इन्हीं आर्य वृद्ध के शिष्य रहे होंगे । अभिलेखों के आधार पर आर्य वृद्ध कोटिक गण की व्रजी शाखा के थे । विद्याधर शाखा भी इसी कोटिक गण की एक शाखा थी । गण की दृष्टि से तो आर्य वृद्ध और सिद्धसेन एक ही गण के सिद्ध होते हैं, किन्तु शाखा का अन्तर अवश्य विचारणीय है । सम्भवत: आर्य वृद्ध सिद्धसेन के विद्यागुरू हों, फिर भी इतना निश्चित है कि आचार्य सिद्धसेन का सम्बन्ध उसी कोटिकगण से है जो श्वेताम्बर और यापनीय दोनों ही परम्पराओं का पूर्वज है । ज्ञातव्य है कि उमास्वाति भी इसी कोटिक गण की उच्चनागरी शाखा में हुए थे ।

हम चाहे उनके गण (वंश) की दृष्टि से विचार करें या काल की दृष्टि से विचार करें सिद्धसेन दिगम्बर, श्वेताम्बर एवं यापनीय परम्पराओं के अस्तित्व में आने के पूर्व ही हो चुके थे । वे उत्तर भारत की निर्ग्रन्थ धारा में हुए हैं जो आगे चलकर श्वेताम्बर और यापनीय के रूप में विभाजित हुई। यापनीय परम्परा के ग्रन्थों में सिद्धसेन का आदरपूर्वक उल्लेख उन्हें अपनी पूर्वज धारा के एक विद्वान् आचार्य होने के कारण ही है । वस्तुत: सिद्धसेन को श्वेताम्बर या यापनीय सिद्ध करने के प्रयत्न इसलिए निरर्थक है कि पूर्वज धारा में होने के कारण क्वचित् मतभेदों के होते हुए भी वे दोनों के लिए समान रूप से ग्राह्य रहे हैं । श्वेताम्बर और यापनीय दोनों को यह अधिकार है कि वे उन्हें अपनी परम्परा को बताएँ किन्तु उन्हें साम्प्रदायिक अर्थ में श्वेताम्बर या यापनीय नहीं कहा जा सकता है । वे दोनों के ही पूर्वज हैं ।

(५) प्रो० ए०एन० उपाध्ये ने उन्हें कर्नाटकीय ब्राह्मण बताकर कर्नाटक में यापनीय परम्परा का प्रभाव होने से उनको यापनीय परम्परा से जोड़ने का प्रयत्न किया है । किन्तु उत्तर-पश्चिम कर्नाटक में उपलब्ध पाँचवी, छठी शताब्दी के अभिलेखों से यह सिद्ध होता है कि उत्तर भारत के श्वेतपट्ट महाश्रमणसंघ का भी उस क्षेत्र में उतना ही मान था जितना निर्ग्रन्थ संघ और यापनीयों का था । उत्तर भारत के ये आचार्य भी उत्तर कर्नाटक तक की यात्रायें करते थे । सिद्धसेन यदि दक्षिण भारतीय ब्राह्मण भी रहे हों तो इससे यह फलित नहीं होता है कि वे यापनीय थे । उत्तर भारत की निर्ग्रन्थ धारा, जिससे श्वेताम्बर और यापनीयों का विकास हुआ है, का भी विहार दक्षिण में प्रतिष्ठानपुर अर्थात् उत्तर पश्चिमी कर्नाटक तक निर्बाध रूप से होता रहा है । अत: सिद्धसेन का कर्नाटकीय ब्राह्मण होना उनके यापनीय होने का प्रबल प्रमाण नहीं माना जा सकता है ।

मेरी दृष्टि में इतना मानना ही पर्याप्त है कि सिद्धसेन कोटिक गण की उस विद्याधर शाखा में हुए थे जो कि श्वेताम्बर और यापनीयों की पूर्वज है ।

(६) पुन: कुन्दकुन्द के ग्रन्थों और वट्टकेर के मूलाचार की जो सन्मतिसूत्र से निकटता है, उसका कारण यह नहीं है कि सिद्धसेन दक्षिण भरत के वट्टकेर या कुन्दकुन्द से प्रभावित हैं । अपितु स्थिति इसके ठीक विपरीत है । वट्टकेर और कुन्दकुन्द दोनों ही ने प्राचीन आगमिक धारा और सिद्धसेन का अनुकरण किया है । कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में त्रस-स्थावर का वर्गीकरण, चतुर्विध मोक्षमार्ग की कल्पना आदि पर आगमिक धारा का प्रभाव स्पष्ट है, चाहे यह यापनीयों के माध्यम से ही उन तक पहुँचा हो। मूलाचार का तो निर्माण ही आगमिक धारा के निर्युक्ति और प्रकीर्णक साहित्य के आधार पर हुआ है। उस पर सिद्धसेन का प्रभाव होना भी अस्वाभाविद: नहीं है। आचार्य जटिल के वरांगचरित में भी सन्मति की अनेक गाथाएँ अपने संस्कृत रूपान्तर में प्रस्तुत हैं। यह सब इसी बात का प्रमाण है कि ये सभी अपने पूर्ववर्ती-आचार्य सिद्धसेन से प्रभावित हैं।

प्रो० उपाध्ये का यह मानना कि महावीर का सन्मतिनाम कर्नाटक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में अति प्रसिद्ध है और सिद्धसेन ने इसी आधार पर अपने ग्रन्थ का नाम सन्मति दिया होगा, अत: सिद्धसेन यापनीय हैं, मुझे समुचित नहीं लगता है । श्वेताम्बर साहित्य में भी महावीर के सन्मति विशेषण का उल्लेख मिलता है, जैसे सन्मति से युक्त होने से श्रमण कहे गए हैं । इस प्रकार प्रो० ए०एन० उपाध्ये ने सिद्धसेन के यापनीय होने के जो-जो प्रमाण दिये हैं वे सबल प्रतीत नहीं होते हैं ।

सुश्री कुसुम पटोरिया ने जुगल किशोर मुख्तार एवं प्रो० उपाध्ये के तर्कों के साथ-साथ सिद्धसेन को यापनीय सिद्ध करने के लिए अपने भी कुछ तर्क प्रस्तुत किये हैं । वे लिखती हैं कि सन्मतिसूत्र का श्वेताम्बर ग्रन्थों में भी आदरपूर्वक उल्लेख है । जीतकल्पचूर्णि में सन्मतिसूत्र को सिद्धिविनिश्चय के समान प्रभावक ग्रन्थ कहा गया है । श्वेताम्बर परम्परा में सिद्धिविनिश्चय को शिवस्वामिक की कृति कहा गया है । शाकटायन व्याकरण में भी शिवार्य के सिद्धिविनिश्चय का उल्लेख है । यदि एक क्षण के लिए मान भी लिया जाये कि ये शिवस्वामि भगवतीआराधना के कर्ता शिवार्य ही हैं तो भी इससे इतना ही फलित होगा कि कुछ यापनीय कृतियां श्वेताम्बरों को मान्य थीं, किन्तु इससे सिद्धसेन का यापनीयत्व सिद्ध नहीं होता है ।

पुन: सन्मतिसूत्र में अर्द्धमागधी आगम के उद्धरण भी यही सिद्ध करते हैं कि वे उस आगमिक परम्परा के अनुसरणकर्ता हैं जिसके उत्तराधिकारी श्वेताम्बर एवं यापनीय दोनों है । यह बात हम पूर्व में ही प्रतिपादित कर चुके हैं कि आगमों के अन्तर्विरोध को दूर करने के लिए ही उन्होंने अपने अभेदवाद की स्थापना की थी। सुश्री कुसुम पटोरिया ने विस्तार से सन्मतिसूत्र में उनके आगमिक अनुसरण की चर्चा है । यहाँ हम उस विस्तार में न जाकर केवल इतना ही कहना पर्याप्त समझते है कि सिद्धसेन उस आगमिक धारा में ही हुए हैं जिसका अनुसरण श्वेताम्बर और यापनीय दोनों ने किया है और यही कारण है कि दोनों ही उन्हें अपनी-अपनी परम्परा का कहते हैं ।

आगे वे पुन: यह स्पष्ट करती हैं कि गुण और पर्याय के सन्दर्भ में भी उन्होंने आगमों का स्पष्ट अनुसरण किया है और प्रमाणरूप में आगम वचन उद्धृत किये हैं । यह भी उन्हें आगमिक धारा का सिद्ध करता है। श्वेताम्बर और यापनीय दोनों धारायें अर्धमागधी आगम को प्रमाण मानती हैं । सिद्धसेन के सम्मुख जो आगम थे वे देवर्द्धि वाचना के न होकर माथुरी वाचना के रहे होंगे क्योंकि देवर्द्धि निश्चित ही सिद्धसेन से परवर्ती हैं ।

सुश्री पटोरिया ने मदनूर जिला नेल्लौर के एक अभिलेख[१६] का उल्लेख करते हुए यह बताया है कि कोटिमुडुवगण में मुख्य पुष्यार्हनन्दि गच्छ में गणधर के सदृश जिननन्दी मुनीश्वर हुए हैं । उनके शिष्य पृथ्वी पर विख्यात केवलज्ञान निधि के धारक स्वयं जिनेन्द्र के सदृश दिवाकर नाम के मुनि हुए । यह सत्य है कि यह कोटिमडुवगण यापनीय है । किन्तु इस अभिलेख में उल्लेखित 'दिवाकर' सिद्धसेन दिवाकर हैं, यह कहना कठिन है क्योंकि इसमें इन दिवाकर के शिष्य श्रीमंदिर देवमुनि का उल्लेख है जिनके द्वारा अधिष्ठित कंटकाभरण नामक जिनालय को यह दान दिया गया था। यदि दिवाकर मन्दिरदेव के गुरु हैं तो वे सिद्धसेन दिवाकर न होकर अन्य कोई दिवाकर हैं क्योंकि इस अभिलेख के अनुसार मन्दिरदेव का काल ईस्वी सन् ९४२ अर्थात् वि०सं० ९९९ है । इनके गुरु इनसे ५० वर्ष पूर्व भी माने जायें तो वे दसवीं शताब्दी उत्तरार्ध में ही सिद्ध होंगे जबकि सिद्धसेन दिवाकर तो किसी स्थिति में पाँचवीं शती से परवर्ती नहीं हैं। अत: ये दिवाकर सिद्धसेन नहीं हो सकते हैं। दोनों के काल में लगभग ६०० वर्ष का अन्तर है । यदि इसमें उल्लेखित दिवाकर को मन्दिरदेव का साक्षात गुरु न मानकर परम्परा गुरु मानें तो इससे उनका यापनीय होना सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि परम्परा गुरु के रूप में तो गौतम आदि गणधरों एवं भद्रबाहु आदि प्राचीन आचार्यों का भी उल्लेख किया जाता है । अन्त में सिद्ध यही होता है कि सिद्धसेन दिवाकर यापनीय न होकर यापनीयों के पूर्वज थे।

## सिद्धसेन श्वेताम्बरों के पूर्वज आचार्य हैं–

सिद्धसेन को पाँचवीं शती के पश्चात् के सभी श्वेताम्बर आचार्यों ने अपनी परम्परा का माना है । अनेकश: श्वेताम्बर ग्रन्थों में श्वेताम्बर आचार्य के रूप में उनका स्पष्ट निर्देश भी है, और यह भी निर्देश है कि वे कुछ प्रश्नों पर आगमिक धारा से मतभेद रखते हैं । फिर भी, कहीं भी उन्हें अपनी परम्परा से भिन्न नहीं माना गया है । अत: सभी साधक प्रमाणों की समीक्षा के आधार पर यही फलित होता है कि वे उस उत्तर भारतीय निर्ग्रन्थ धारा के विद्याधर कुल में हुए हैं, जिसे श्वेताम्बर आचार्य अपनी परम्परा का मानते हैं अत: वे श्वेताम्बरों के पूर्वज आचार्य हैं ।

## सिद्धसेन दिवाकर की कृतियाँ

वर्तमान में आचार्य सिद्धसेन की जो कृतियाँ मानी जाती हैं, वे सभी सिद्धसेन दिवाकर की कृतियाँ नहीं हैं क्योंकि जैन परम्परा में सिद्धसेन नामक कई आचार्य हो गये हैं । परिणामस्वरूप एक सिद्धसेन की कृतियाँ दूसरे सिद्धसेन के नाम पर चढ़ गयी हैं । उदाहरण के रूप में जीतकल्पचूर्णि और तत्त्वार्थाधिगमसूत्र की टीका सिद्धसेन दिवाकर की कृति न होकर सिद्धसेनगणि की कृतियाँ हैं जो लगभग सातवीं शताब्दी में हुए हैं। इसी प्रकार शक्रस्तव नामक एक कृति सिद्धर्षि की है जिसे भ्रमवश सिद्धसेन दिवाकर की कृति मान लिया जाता है । प्रवचनसारोद्धार की वृत्ति जो तेरहवीं शताब्दी में हुए चन्द्रगच्छ सिद्धसेन सूरि की कृति है, इसी प्रकार कल्याणमन्दिर स्तोत्र को प्रबन्धकोश में सिद्धसेन दिवाकर की कृति मान लिया गया है किन्तु यह भी संशयास्पद ही है । सिद्धसेन दिवाकर की निम्न तीन कृतियाँ ही वर्तमान में उपलब्ध हैं-

(१) सन्मतिसूत्र

(२) द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका

(३) न्यायावतार

इनमें भी 'सन्मतिसूत्र' अथवा 'सन्मति-प्रकरण' निर्विवाद रूप से सिद्धसेन दिवाकर की कृति है ऐसा सभी श्वेताम्बर एवं दिगम्बर विद्वानों ने माना है । यह अर्धमागधी प्रभावित महाराष्ट्री प्राकृत में रचित है । इस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कृति का महाराष्ट्री प्राकृत में रचित होना दो तथ्यों को स्पष्ट कर देता है- प्रथम तो यह कि यह पश्चिमी या पश्चिमोत्तर भारत में रची गयी है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि सिद्धसेन दिवाकर का विचरण क्षेत्र मुख्यत: पश्चिमी भारत था। प्रबन्धों में उनके अवन्तिका, भृगुकच्छ तथा प्रतिष्ठानपुर जाने के उल्लेख इसी तथ्य को पुष्ट करते हैं। द्वितीय यह कि सिद्धसेन दिवाकर का सम्बन्ध पश्चिमोत्तर भारत की उस निर्ग्रन्थ परम्परा से रहा है जो श्वेताम्बरों एवं यापनीयों की पूर्वज थी। सिद्धसेन ने इस कृति में मुख्यत: जैन दर्शन के मूलभूत सिद्धान्त अनेकान्तवाद की स्थापना की है। यह ग्रन्थ १६६ या १६७ प्राकृत गाथाओं में निबद्ध तथा तीन काण्डों में विभक्त है।

प्रथम काण्ड में अनेकान्तवाद, नयवाद और सप्तभंगी की चर्चा है। अनेकान्तवाद की स्थापना की दृष्टि से इसमें अन्य दर्शनों की एकान्तवादी मान्यताओं की समीक्षा भी की गयी है और उनकी ऐकान्तिक मान्यताओं का निरसन करते हुए अनेकान्तवाद की स्थापना की गयी है। सप्तभंगी का उल्लेख जैनदर्शन में प्रथम बार इसी ग्रन्थ में मिलता है। ग्रन्थ के दूसरे काण्ड में केवलदर्शन और केवलज्ञान के उत्पत्ति-क्रम के प्रश्न को लेकर क्रमवाद और युगपद्वाद की मान्यताओं की समीक्षा करते हुए अन्त में अभेदवाद की अपनी मान्यता को प्रस्तुत किया है। तीसरे काण्ड में सिद्धसेन ने श्रद्धा और तर्क की ऐकान्तिक मान्यताओं का निराकरण करते हुए अनेकान्त की दृष्टि से उनकी सीमाओं का उल्लेख किया है। इसी प्रकार इस काण्ड में कारण के सम्बन्ध में काल, स्वभाव, नियति, पुरुषार्थ आदि की ऐकान्तिक अवधारणाओं की समीक्षा करते हुए अनेकान्तिक दृष्टि से उनके बीच समन्वय स्थापित किया है। अन्त में यह बताया है कि शास्त्र के अर्थ को समझने के लिए किस प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि विभिन्न अपेक्षाओं का विचार करना चाहिए। आचार्य सिद्धसेन का कथन है कि केवल शब्दों के अर्थ को जान लेने से सूत्र का आशय नहीं समझा जा सकता है।

सन्मति तर्क के अतिरिक्त द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका को भी सिद्धसेन दिवाकर की कृति माना जाता है। वस्तुत: द्वात्रिंशद्-द्वात्रिंशिका बत्तीस-बत्तीस पद्यों की बत्तीस कृतियों का संग्रह है। इन बत्तीसियों में कुछ बत्तीसियाँ सिद्धसेन के जैनधर्म में दीक्षित होने के पूर्व रची गयी प्रतीत होती हैं, जैसे- वेद बत्तीसी। वर्तमान में बत्तीस बत्तीसियों में से मात्र बाईस बत्तीसियाँ उपलब्ध हैं, न्यायावतार भी उसका ही अंग है। आठवीं, ग्यारहवीं, पन्द्रहवीं और उन्नीसवीं बत्तीसियों में बत्तीस से कम पद्य हैं। बाईस बत्तीसियों में कुल ७०४ पद्य होने चाहिए किन्तु ६९५ पद्य ही उपलब्ध होते हैं। इन बत्तीसियों में प्रथम पाँच, ग्यारहवीं और इक्कीसवीं ये सात स्तुत्यात्मक हैं। छठी और आठवीं बत्तीसी समीक्षात्मक है। शेष तेरह स्तुतियाँ स्तुतिरूप न होकर दार्शनकि विवेचन या वर्णनात्मक हैं। दार्शनिक स्तुतियों में भी ग्यारहवीं स्तुति में न्याय दर्शन की, तेरहवीं में सांख्य दर्शन की, चौदहवीं में वैशेषिक दर्शन की और पन्द्रहवीं में बौद्धों के शून्यवाद की समीक्षा है।

उपलब्ध सभी बत्तीसियाँ सिद्धसेन की कृति है या नहीं ? इस प्रश्न को लेकर विद्वानों में मतभेद है। मुख्य रूप से उन स्तुतियों को जिनमें महावीर के विवाह का संकेत है, दिगम्बर विद्वान्, किसी अन्य सिद्धसेन की कृति मानते हैं। किन्तु केवल अपनी परम्परा का समर्थन न होने से उन्हें अन्य सिद्धसेन की कृति कह देना उचित नहीं है। उपलब्ध बाईस बत्तीसियों में अन्तिम बत्तीसी न्यायावतार के नाम से जानी जाती है। यह बत्तीसी सिद्धसेन की कृति है या नहीं? इस प्रश्न को लेकर भी विद्वानों में भी मतभेद है, अत: इस पर थोड़ी गहराई से चर्चा करें।

**न्यायावतार का कृतित्व**

न्यायावतार, सन्मतिसूत्र के कर्ता सिद्धसेन की कृति है या नहीं, यह एक विवादास्पद प्रश्न है। इस सन्दर्भ में श्वेताम्बर विद्वान् भी मतैक्य नहीं रखते हैं। पं० सुखलाल जी, पं० बेचरदास जी एवं पं० दलसुख मालवणिया ने न्यायावतार को सिद्धसेन की कृति माना है, किन्तु एम०ए० ढाकी आदि कुछ श्वेताम्बर विद्वान् उनसे मतभेद रखते हुए उसे सिद्धर्षि की कृति मानते हैं[१७]। डॉ० श्री प्रकाश पाण्डेय ने अपनी कृति 'सिद्धसेन दिवाकर : व्यक्तित्व एवं कृतित्व' में इस प्रश्न की विस्तृत समीक्षा की है तथा प्रो० ढाकी के मत का समर्थन करते हुए न्यायावतार को सिद्धसेन दिवाकर की कृति न मानते हुए इसे सिद्धर्षि की कृति माना है। किन्तु कुछ तार्किक आधारों पर मेरी व्यक्तिगत मान्यता यह है कि न्यायावतार भी सिद्धसेन की कृति है। प्रथम तो यह है कि न्यायावतार भी एक द्वित्रिंशिका है और सिद्धसेन ने स्तुतियों के रूप में द्वित्रिंशिकाएँ ही लिखी हैं। उनके परवर्ती आचार्य हरभिद्र ने अष्टक, षोडशक और विशिंकायें तो लिखीं किन्तु द्वात्रिंशिका नहीं लिखी। दूसरे, न्यायावतार में आगम युग के प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम -इन तीन प्रमाणों की ही चर्चा हुई है, दर्शनयुग में विकसित जैन परम्परा में मान्य स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्क की प्रमाण के रूप में मूल ग्रन्थ में कोई चर्चा नहीं है जबकि परवर्ती सभी श्वेताम्बर एवं दिगम्बर आचार्य एवं न्यायावतार के टीकाकार सिद्धर्षि स्वयं भी इन प्रमाणों की चर्चा करते हैं। यदि सिद्धर्षि स्वयं ही इसके कर्ता होते तो कम से कम एक कारिका बनाकर इन तीनों प्रमाणों का उल्लेख तो मूलग्रन्थ में अवश्य करते। पुन: सिद्धर्षि की टीका में कोई भी ऐसे लक्षण नहीं मिलते हैं, जिससे वह स्वोपज्ञ सिद्ध होती है। इस कृति में कहीं भी उत्तम पुरुष के प्रयोग नहीं मिलते। यदि वह उनकी स्वोपज्ञ टीका होती तो इसमें उत्तम पुरुष के कुछ तो प्रयोग मिलते।

प्रत्यक्ष की परिभाषा में प्रयुक्त 'अभ्रान्त' पद तथा समन्तभद्र के रत्नकरण्डक श्रावकाचार के जिस श्लोक को लेकर यह शंका की जाती है कि न्यायावतार सिद्धसेन दिवाकर की कृति नहीं है- अन्यथा वे धर्मकीर्ति और समन्तभद्र के परवर्ती सिद्ध होंगे। प्रथम तो यही निश्चित नहीं है कि रत्नकरण्डकश्रावकाचार समन्तभद्र की कृति है या नहीं। उसमें जहाँ तक 'अभ्रान्त' पद का प्रश्न है- प्रो० टूची के अनुसार यह धर्मकीर्ति के पूर्व भी बौद्ध न्याय में प्रचलित था। अनुशीलन करने पर असंग के गुरु मैत्रेय की कृतियों में एवं स्वयं असंग की कृति अभिधर्म

Jain Education International    For Private & Personal Use Only    www.jainelibrary.org

समुच्चय में प्रत्यक्ष की परिभाषा में 'अभ्रान्त' पद का प्रयोग हुआ है। अभिधर्म समुच्चय में असंग स्वयं लिखते हैं-

**प्रत्यक्षं स्व सत्प्रकाशाभ्रान्तोऽर्थ।**[११]

ज्ञातव्य है कि असंङ्ग वसुबन्धु के बड़े भाई थे और इनका काल लगभग तीसरी-चौथी शताब्दी है। अत: सिद्धसेन दिवाकर की कृति न्यायावतार में अभ्रान्त पद को देखकर उसे न तो परवर्ती माना जा सकता है और न यह मांना जा सकता है कि वह धर्मकीर्ति से परवर्ती किसी अन्य सिद्धसेन की कृति है। यदि बौद्ध न्याय में अभ्रान्त पद का उल्लेख तीसरी-चौथी शताब्दी के ग्रन्थों में उपलब्ध है तो फिर न्यायावतार (चतुर्थशती) में अभ्रान्त पद के प्रयोग को अस्वाभाविक नहीं माना जा सकता है। डॉ० पाण्डेय ने भी अपनी इस कृति में इस तथ्य को स्वीकार कर लिया है फिर भी वे न्यायावतार को सिद्धसेन की कृति मानने में संकोच कर रहे हैं?

उनका दूसरा तर्क यह है कि न्यायावतार की अनुमान-प्रमाण की परिभाषा पर दिगम्बर विद्वान् पात्र केसरी का प्रभाव है। उनके अनुसार न्यायावतार की २२वीं कारिका का पात्र केसरी की त्रिलक्षण कदर्थन की कारिका से आंशिक साम्य है, लेकिन इस आधार पर यह मानना की पात्र केसरी (७वीं शती) का प्रभाव न्यायावतार पर है मुझे तर्कसंगत नहीं जान पड़ता, क्योंकि इसके विपरीत यह भी तो माना जा सकता है कि सिद्धसेन दिवाकर का ही अनुसरण पात्र केसरी ने किया है।

तीसरे, जब न्यायावतार के वार्तिक में शान्तिसूरि स्पष्ट रूप से 'सिद्धसेनार्क सूत्रितम्' (न्यायावतारसूत्र वार्तिक, १/१) ऐसा स्पष्ट उल्लेख करते हैं तो फिर यह संदेह कैसे किया जा सकता है कि न्यायावतार के कर्ता सिद्धसेन दिवाकर पदवी वाले सिद्धसेन नहीं हैं। यदि न्यायावतार सिद्धर्षि की कृति होती तो वार्तिककार शान्त्याचार्य जो उनसे लगभग दो सौ वर्ष पश्चात हुए हैं, यह उल्लेख अवश्य करते। उनके द्वारा सिद्धसेन के लिए 'अर्क' विशेषण का प्रयोग यही सिद्ध करता है कि न्यायावतार के कर्ता अन्य कोई सिद्धसेन न होकर सिद्धसेन दिवाकर ही हैं। क्योंकि अर्क का मतलब स्पष्ट रूप से दिवाकर (सूर्य) ही है।

पुनः, न्यायावतार की कारिकाओं की समन्तभद्र की कारिकाओं में समरूपता दिखाई देने पर भी न्यायावतार को सिद्धसेन दिवाकरकृत मानने पर बाधा नहीं आती, क्योंकि समन्तभद्र की आप्तमीमांसा आदि कृतियों में सिद्धसेन के सन्मतितर्क का स्पष्ट प्रभाव देखा जाता है। इनमें न केवल भावगत समानता है, अपितु प्राकृत और संस्कृत के शब्द रूपों को छोड़कर भाषागत भी समानता है और यह निश्चित है कि सिद्धसेन दिवाकर समन्तभद्र से पूर्ववर्ती हैं। अत: सिद्धसेन की कृतियों की समन्तभद्र की कृतियों में समरूपता दिखाई देने के आधार पर यह अनुमान कर लेना उचित नहीं होगा कि न्यायावतार सिद्धसेन दिवाकर की कृति नहीं है। समन्तभद्र ने जब सिद्धसेन के सन्मतितर्क से आप्तमीमांसा में अनेक श्लोकों का ग्रहण किया है तो यह भी सम्भव है कि उन्होंने रत्नकरण्डकश्रावकाचार (जिसका समन्तभद्रकृत होना भी विवादास्पद है) में भी सिद्धसेन के न्यायावतार से कुछ श्लोक अभिगृहीत किये हों।

पुन:, जब न्यायावतार का दूसरा व चौथा पूरा का पूरा श्लोक याकनीसूनु हरिभद्र के अष्टकप्रकरण और षड्दर्शनसमुच्च्य में पाया जाता है तो फिर न्यायावतार को हरिभद्र के बाद होने वाले सिद्धर्षि की कृति कैसे माना जा सकता है? इससे यह स्पष्ट है कि न्यायावतार की रचना हरभिद्र से पूर्व हो चुकी थी, फिर इसे सिद्धर्षि की कृति कैसे माना जा सकता है? अत: डॉ० पाण्डेय और प्रो० ढाकी का यह मानना कि न्यायावतार मूल सिद्धर्षि की कृति है किसी भी दृष्टि से तर्कसंगत नहीं है। अपने पक्ष के बचाव में डॉ० पाण्डेय का यह तर्क कि ये श्लोक सिद्धसेन की लुप्त प्रमाण द्वात्रिंशिका के हों, अधिक वजनदार नहीं लगता है। जब न्यायावतार के ये श्लोक स्पष्ट रूप से हरभिद्र के अष्टकप्रकरण और षड्दर्शनसमुच्चय से मिल रहे हों तो फिर द्राविड़ी प्राणयाम के द्वारा यह कल्पना करना कि वे किसी लुप्त प्रमाणद्वात्रिंशिका के श्लोक होंगे, युक्तिसंगत नहीं है। जब सिद्धसेन के इस न्यायावतार में अभी ३२ श्लोक हैं तो फिर सम्भव यह भी है कि इसका ही अपर नाम प्रमाणद्वात्रिंशिका हो? पुन: जब हरिभद्र के द्वारा न्यायावतार पर वृत्ति लिखे जाने पर स्पष्ट सूचनायें प्राप्त हो रही हैं तो फिर यह कल्पना करना कि वे हरिभद्र प्रथम न होकर कोई दूसरे हरिभद्र होंगे मुझे उचित नहीं लगता। जब याकिनीसूनु हरिभद्र **न्यायावतार** की कारिका अपने ग्रन्थों में उद्धृत कर रहे हैं तो यह मानने में क्या बाधा है कि वृत्तिकार भी वे ही हों?

न्यायावतार की विषय वस्तु से यह स्पष्ट है कि वह जैन प्रमाण शास्त्र की आद्य रचना है। उसमें अकलंक के काल में विकसित तीन प्रमाणों यथा- स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्क का ऊह का उपलब्ध नहीं होना तथा आगमिक तीन प्रमाणों की सूचना प्राप्त होना यही प्रमाणित करता है कि वह अकलंक (८वीं शती) से पूर्व का ग्रन्थ है। सिद्धर्षि का काल अकलंक से परवर्ती है और उन्होंने अपने न्यायावतार की वृत्ति में स्पष्टत: इन प्रमाणों की चर्चा की है- जबकि आठवीं शती तक के किसी श्वेताम्बर आचार्य में इनकी चर्चा नहीं है, यहाँ तक कि हरिभद्र भी इन प्रमाणों की चर्चा नहीं करते हैं- पूर्ववर्ती श्वेताम्बराचार्य आगमिक तीन प्रमाणों प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द की चर्चा करते हैं। अत: यह सिद्ध हो जाता है कि न्यायावतार, आगमिक तीन प्रमाणों का ही उल्लेख करने के कारण सिद्धसेन दिवाकर की ही कृति है। यदि कहीं सिद्धर्षि की कृति होती तो निश्चय ही मूल कारिका में इनकी चर्चा होनी थी। पुन: डॉ० पाण्डेय का यह कथन की स्वोपज्ञवृत्ति में कतिपय विषय बिन्दु ऐसे मिलते हैं जिनका उल्लेख मूल में नहीं है परन्तु भाष्य या वृत्ति में होता है किन्तु मैं डॉ० पाण्डेय के इस तर्क से सहमत नहीं हूँ क्योंकि यदि न्यायावतार सिद्धर्षि की वृत्ति होती तो वे कम से कम यह तर्क नहीं देते कि इस न्यायावतार प्रकरण में अनुमान से ऊह को पृथक् करके नहीं दिखाया गया क्योंकि यह प्रकरण संक्षिप्त रुचि के जीवों के अनुग्रह के लिए लिखा गया। इस प्रसंग में यदि सिद्धर्षि ने स्वयं ही मूलग्रन्थ लिखा होता तो अवश्य यह लिखते कि मैंने यह प्रकरण संक्षिप्त रुचि वाले

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लोगों के लिए बनाया। सिद्धर्षि ने कहीं भी इस तथ्य का निर्देश नहीं किया है कि मूलग्रन्थ मेरे द्वारा बनाया गया है। अत: यह कल्पना करना निराधार है कि मूल न्यायावतार सिद्धर्षि की कृति है और उस पर उन्होंने स्वोपज्ञवृत्ति लिखी है।

यह सत्य है कि उस युग में स्वोपज्ञ टीका या वृत्ति लिखे जाने की प्रवृत्ति प्रचलन में थी किन्तु इस सिद्धर्षि की वृत्ति से कहीं भी फलित नहीं होता है कि वह स्वोपज्ञ है। पुन: स्वोपज्ञवृत्ति में मूल में वर्णित विषयों का ही स्पष्टीकरण किया जाता है, उसमें नये विषय नहीं आते। उदाहरण के रूप में तत्त्वार्थसूत्र मूल में गुणस्थान सिद्धान्त की कोई चर्चा नहीं है तो उसके स्वोपज्ञ भाष्य में किसी भी स्थान में गुणस्थान सिद्धान्त की चर्चा नही की गयी किन्तु अन्य आचार्यों के द्वारा जब उस पर टीकायें लिखी गयीं तो उन्होंने विस्तार से गुणस्थान सिद्धान्त की चर्चा की। इससे यही फलित होता है कि न्यायावतार की मूल कारिकायें सिद्धर्षि की कृति नहीं हैं। यदि मूलकारिकाएँ भी सिद्धर्षि की कृति होतीं तो उनमें नैगमादि नयों एवं स्मृति, प्रत्यभिज्ञा तर्क आदि प्रमाणों की कहीं कोई चर्चा अवश्य होनी थी।

नये विवेचन के सन्दर्भ में डॉ० पाण्डेय का यह तर्क भी समीचीन नहीं है कि "यदि सिद्धर्षि सिद्धसेन के ग्रन्थ पर वृत्ति लिखे होते तो जो सिद्धसेन को अभीष्ट नहीं है या तो उसका उल्लेख नहीं करते या उल्लेख करते भी तो यह कहकर कि मूलकार इसे नहीं मानता।" यहाँ उन्हें यह स्मरण रखना चाहिए कि टीकाकारों के द्वारा अपनी नवीन मान्यता को प्रस्तुत करते समय कहीं भी यह लिखने की प्रवृत्ति नहीं रही कि वे आवश्यक रूप से जो मूलग्रन्थकार का मंतव्य नहीं है उसका उल्लेख करें। सिद्धर्षि की न्यायावतार वृत्ति में नयों की जो चर्चा है वह किसी मूल कारिका की व्याख्या न हो करके एक परिशिष्ट के रूप में की गयी चर्चा ही है क्योंकि मूल ग्रन्थ की २९वीं कारिका में मात्र 'नय' शब्द आया है उसमें कहीं भी नय कितने हैं यह उल्लेख नहीं है, यह टीकाकार की अपनी व्याख्या है और टीकाकार के लिए यह बाध्यता नहीं होती है कि वह उन विषयों की चर्चा न करे जो मूल में नहीं है। इतना निश्चित है कि यदि सिद्धर्षि की वृत्ति स्वोपज्ञ होती तो वे मूल में कहीं न कहीं नयों की चर्चा करते। इससे यही फलित होता है कि मूल ग्रन्थकार और वृत्तिकार दोनों अलग-अलग व्यक्ति हैं।

टीका में नवीन-नवीन विषयों का समावेश यही सिद्ध करता है कि न्यायावतार की सिद्धर्षि की वृत्ति स्वोपज्ञ नहीं है। जहाँ तक डॉ० पाण्डेय के इस तर्क का प्रश्न है कि वृत्तिकार ने मूलग्रन्थकार का निर्देश प्रारम्भ में क्यों नहीं किया, इस सम्बन्ध में मेरा उत्तर यह है कि जैन परम्परा में ऐसे अनेक उदाहरण हैं जहाँ वृत्तिकार मूलग्रन्थकार से भिन्न होते हुए भी मूलग्रन्थकार का निर्देश नहीं करता है। उदाहरण के रूप में तत्त्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि टीका में कहीं भी यह निर्देश नहीं है कि वह उमास्वाति के मूल ग्रन्थ पर टीका लिख रहा है। ये लोग प्राय: केवल ग्रन्थ का निर्देश करके ही संतोष कर लेते थे, ग्रन्थकार का नाम बताना आवश्यक नहीं समझते थे क्योंकि वह जनसामान्य में ज्ञात ही होता था।

अत: यह मानना कि न्यायावतार सिद्धसेन दिवाकर की कृति न होकर सिद्धर्षि की कृति है और उस पर लिखी गयी न्यायावतार वृत्ति स्वोपज्ञ है, उचित प्रतीत नहीं होता।

न्यायावतार सिद्धसेन की कृति है, इसका सबसे महत्त्वपूर्ण प्रमाण तो यह है कि मल्लवादी ने अपने ग्रन्थ नयचक्र में स्पष्ट रूप से सिद्धसेन को न्यायावतार का कर्ता कहा है। मुझे ऐसा लगता है कि प्रतिलिपिकारों के प्रमाद के कारण ही कहीं न्यायावतार की जगह नयावतार हो गया है। प्रतिलिपियों में ऐसी भूलें सामान्यतया हो ही जाती हैं।

जहाँ तक सिद्धसेन की उन स्तुतियों का प्रसंग है जिनमें महावीर के विवाह आदि के संकेत हैं, दिगम्बर विद्वानों की यह अवधारणा कि यह किसी अन्य सिद्धसेन की कृति है उचित नहीं है। केवल अपनी परम्परा से समर्थित न होने के कारण किसी अन्य सिद्धसेन की कृति कहें, यह उचित नहीं है।

**सन्दर्भ**

१. - सन्मति प्रकरण- सम्पादक, पं० सुखलाल जी संघवी, ज्ञानोदय ट्रस्ट, अहमदाबाद, प्रस्तावना, पृष्ठ ६ से १६।

२ अ. दंसणगाही-दंसणणाणप्पभावगणि सत्थाणि सिद्धिविणिच्छय-संमतिमादि गेण्हंतो असंथरमाणे जं अकप्पियं पडिसेवति जयणाते तत्थ सो सुद्धो अप्रायश्चिती भवतीत्यर्थ:।

- निशीथचूर्णि, भाग१, पृष्ठ १६२।

दंसणप्पभावगाण सत्थाण सम्मदियादिसुतणाणे य जो विसारदो णिस्सकियसुत्तथो त्ति वुत्तं भवति।

- वही, भाग ३, पृष्ठ २०२।

ब. आयरिय सिद्धसेणेण सम्मई ए पइट्ठि अजसेणं।
दूसमणिसादिवागर कप्पत्तणओ तदक्खेणं।

- पंचवस्तु (हरिभद्र), १०४८

स. **श्रीदशाश्रुतस्कन्ध** मूल, निर्युक्ति, चूर्णिसह-पृ० १६ (श्रीमणिविजय ग्रन्थमाला नं० १४, सं० २०११) (यहाँ सिद्धसेन को गुरु से भिन्न अर्थ करने वाला भाव-अभिनय का दोषी बताया गया है)।

द. पूर्वाचार्य विरचितेषु सन्मति-नयावतारादिषु .......

-द्वादशारं नयचक्रम्, (मल्लवादि)। भावनगरस्या श्री आत्मानन्द सभा, १९८८, तृतीय विभाग, पृ० ८८६।

३ अ. अणेण सम्मइसुत्तेणसह कथमिदं वक्खाणं ण विरूज्झदे। (ज्ञातव्य है कि इसके पूर्व सन्मतिसूत्र की गाथा ६उद्धृत है-धवला, टीका समन्वित षट्खण्डागम १/१/१ पुस्तक, १, पृष्ठ १६।

ब. जगत्प्रसिद्ध बोधस्य, वृषभस्येव निस्तुषा:।
बोध्यंति सतां बुद्धिं सिद्धसेनस्य सूक्तय:॥

-हरिवंशपुराण (जिनसेन) १/३०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स सिद्धसेनोऽभय भीनसेनकौ गुरु परौ तौ जिनशांतिषेणकौ।
-वही,६६/२९ ।

स. प्रवादिकरियूथानां केसरी नयकेसर: ।
सिद्धसेन कविर्जीयद्विकल्पनखराङ्कुर: ।।
- आदिपुराण (जिनसेन), १/४२ ।

द. आसीदिन्द्रगुरुर्दिवाकरयति: शिष्योऽस्य चार्हन्मुनि: ।
तस्माल्लक्ष्मणसेन सन्मुनिरद: शिष्यो रविस्तु स्मृत: ।
-पद्यचरित (रविषेण), १२३/१६७ ।

ज्ञातव्य है कि हरिवंशपुराण के अन्त में पुन्नाटसंघीय जिनसेन की अपनी गुरुपरम्परा में उल्लिखित सिद्धसेन तथा रविषेण द्वारा पद्मचरित के अन्त में अपनी गुरु परम्परा में उल्लिखित दिवाकर यति- ये दोनों सिद्धसेन दिवाकर से भिन्न हैं। यद्यपि हरिवंश के प्रारम्भ में तथा आदिपुराण के प्रारम्भ में पूर्वाचार्यों का स्मरण करते हुए जिन सिद्धसेन का उल्लेख किया गया है वे सिद्धसेन दिवाकर ही हैं।

इ. - जैन साहित्य और इतिहास पर विशद् प्रकाश, जुगल किशोर मुख्तार, पृष्ठ५००-५८५ ।

फ. धवला और जयधवला में सन्मतिसूत्र की कितनी गाथायें कहाँ उद्धृत हुईं, इसका विवरण पं० सुखलाल जी ने सन्मतिप्रकरण की अपनी भूमिका में किया है । देखें- सन्मतिप्रकरण 'भूमिका', पृष्ठ ५८।

ज. इसी प्रकार जटिल के वरांगचरित में भी सन्मतितर्क की अनेक गाथाएं अपने संस्कृत रूपान्तर में पायी जाती हैं । इसका विवरण मैंने इसी ग्रन्थ के इसी अध्याय से वरांगचरित्र के प्रसंङ्ग में किया है ।

4. Siddhasena's Nyāyavatāra and other works. A.N. Upadhye, Jaina, Sahitya Vikas Mandal, Bombay. 'Introduction, pp.XIV-XVII

५. यापनीय और उनका साहित्य- डॉ० कुसुम पटोरिया, वीर सेवा मंदिर ट्रस्ट प्रकाशन, वाराणसी-१९८८, पृ० १४३/१४८ ।

६. देखें- जैन साहित्य और इतिहास पर विशद् प्रकाश, पं० जुगल किशोर मुख्तार, पृष्ठ ५८०-५८२ ।

७. देखें - प्रभावकचरित्त-प्रभाचन्द्र-सिंघी जैन ग्रन्थमाला, पृ०५४-६१ । प्रबन्धकोश (चतुर्विंशतिप्रबन्ध), राजशेखरसूरि-सिंघी जैन ज्ञानपीठ, पृ० १५-२१ ।
प्रबन्ध चिन्तामणि, मेरुतुंग, सिंघी जैन ज्ञानपीठ, पृ० ७-९

८. प्रभावकचरित-वृद्धवादिसूरिचरितम्,पृ० १०७-१२० ।

९. 'अनेकजन्मान्तरभग्नमान: स्सरो यशोदाप्रिय यत्पुरस्ते'-पंचम द्वात्रिंशिका, ३६ ।

१०. - सन्मतिसूत्र, २/४, २/७, ३/४६ ।

११. जैन साहित्य और इतिहास पर विशद् प्रकाश- पं० जुगल किशोर मुख्तार, पृ० ५२७-५२८ ।

१२. सन्मतिप्रकरण-सम्पादक पं० सुखलाल जी एवं बेचरदास जी, ज्ञानोदय ट्रस्ट, अहमदाबाद, पृ० ३६-३७ ।

13. Siddhasena's Nyāyāvatār and other works. A.N. Upadhye-Introduction- pp. xiii to zviii.

१४. सुत्तासायणभीरूहि तं च दट्ठव्वयं होई ।
संतम्मि केवले दंसणम्मि णाणस्स संभवो णत्थि।।
सुत्तम्मि चेव साई-अपज्जवसियं ति केवलं वुत्तं।
केवलणाणम्मि य दंसणस्स तम्हा सणिहणाइं।।
-सन्मतिप्रकरण, २/७-८ ।

१५. सम्भिन्न ज्ञानदर्शनस्य तु भगवत: केवलिनो युगपत् सर्वभाव ग्राहके निरपेक्षे केवलज्ञाने केवलदर्शने चानुसमयमुपयोगो भवति ।
- तत्त्वार्थभाष्य, १/३१ ।

१६. कल्पसूत्र ।

१७. जैन शिलालोख संग्रह, भाग २, लेख क्रमांक १४३ ।

१८. The Date and authorship of Nyāyāvatāra-M.A. Dhaky. 'Nirgrantha' Edited by M.A. Dhaky & Jitendra Shah, Sharadaben Chimanbhai Educational Research Centre, Ahmedabad-4.

१९. अभिधर्मसमुच्चय, विश्वभारती शांतिनिकेतन १९५०, सांकथ्य परिच्छेद, पृ० १०५ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org